ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

महाप्रस्थानिकपर्व

प्रथमोऽध्यायः

वृष्णिवंशियोंका श्राद्ध करके प्रजाजनोंकी अनुमति ले द्रौपदीसहित पाण्डवोंका महाप्रस्थान

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥

जनमेजय उवाच

एवं वृष्ण्यन्धककुले श्रुत्वा मौसलमाहवम्।
पाण्डवाः किमकुर्वन्त तथा कृष्णे दिवं गते॥ १॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! इस प्रकार वृष्णि और अन्धकवंशके वीरोंमें मूसलयुद्ध होनेका समाचार सुनकर भगवान् श्रीकृष्णके परमधाम पधारनेके पश्चात् पाण्डवोंने क्या किया?॥ १॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैवं कौरवो राजा वृष्णीनां कदनं महत्।
प्रस्थाने मतिमाधाय वाक्यमर्जुनमब्रवीत्॥ २॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! कुरुराज युधिष्ठिरने जब इस प्रकार वृष्णिवंशियोंके महान् संहारका समाचार सुना, तब महाप्रस्थानका निश्चय करके अर्जुनसे कहा—॥२॥

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव महामते।
कालपाशमहं मन्ये त्वमपि द्रष्टुमर्हसि॥ ३॥

'महामते! काल ही सम्पूर्ण भूतोंको पका रहा है—विनाशकी ओर ले जा रहा है। अब मैं कालके बन्धनको स्वीकार करता हूँ। तुम भी इसकी ओर दृष्टिपात करो'॥ ३॥

इत्युक्तः स तु कौन्तेयः कालः काल इति ब्रुवन्।
अन्वपद्यत तद् वाक्यं भ्रातुर्ज्येष्ठस्य धीमतः॥ ४॥

भाईके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार अर्जुनने 'काल तो काल ही है, इसे टाला नहीं जा सकता' ऐसा कहकर अपने बुद्धिमान् बड़े भाईके कथनका अनुमोदन किया॥ ४॥

अर्जुनस्य मतं ज्ञात्वा भीमसेनो यमौ तथा।
अन्वपद्यन्त तद् वाक्यं यदुक्तं सव्यसाचिना॥ ५॥

अर्जुनका विचार जानकर भीमसेन और नकुल-सहदेवने भी उनकी कही हुई बातका अनुमोदन किया॥ ५॥

ततो युयुत्सुमानाय्य प्रव्रजन् धर्मकाम्यया।
राज्यं परिददौ सर्वं वैश्यापुत्रे युधिष्ठिरः॥ ६॥

तत्पश्चात् धर्मकी इच्छासे राज्य छोड़कर जानेवाले युधिष्ठिरने वैश्यापुत्र युयुत्सुको बुलाकर उन्हींको सम्पूर्ण राज्यकी देख-भालका भार सौंप दिया॥ ६॥

अभिषिच्य स्वराज्ये च राजानं च परिक्षितम्।
दुःखार्तश्चाब्रवीद् राजा सुभद्रां पाण्डवाग्रजः॥ ७॥

फिर अपने राज्यपर राजा परीक्षित्का अभिषेक करके पाण्डवोंके बड़े भाई महाराज युधिष्ठिरने दुःखसे आर्त होकर सुभद्रासे कहा—॥ ७॥

एष पुत्रस्य पुत्रस्ते कुरुराजो भविष्यति।
यदूनां परिशेषश्च वज्रो राजा कृतश्च ह॥ ८॥

'बेटी! यह तुम्हारे पुत्रका पुत्र परीक्षित् कुरुदेश तथा कौरवोंका राजा होगा और यादवोंमें जो लोग बच गये हैं; उनका राजा श्रीकृष्ण-पौत्र वज्रको बनाया गया है॥ ८॥

परिक्षिद्धास्तिनपुरे शक्रप्रस्थे च यादवः।
वज्रो राजा त्वया रक्ष्यो मा चाधर्मे मनः कृथाः॥ ९॥

'परीक्षित् हस्तिनापुरमें राज्य करेंगे और यदुवंशी वज्र इन्द्रप्रस्थमें। तुम्हें राजा वज्रकी भी रक्षा करनी चाहिये और अपने मनको कभी अधर्मकी ओर नहीं जाने देना चाहिये'॥ ९॥

इत्युक्त्वा धर्मराजः स वासुदेवस्य धीमतः।
मातुलस्य च वृद्धस्य रामादीनां तथैव च॥ १०॥
भ्रातृभिः सह धर्मात्मा कृत्वोदकमतन्द्रितः।
श्राद्धान्युद्दिश्य सर्वेषां चकार विधिवत् तदा॥ ११॥

ऐसा कहकर धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिरने भाइयोंसहित आलस्य छोड़कर बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्ण, बूढ़े मामा वसुदेव तथा बलराम आदिके लिये जलाञ्जलि दी और उन सबके उद्देश्यसे विधिपूर्वक श्राद्ध किया॥ १०-११॥

द्वैपायनं नारदं च मार्कण्डेयं तपोधनम् ।
भारद्वाजं याज्ञवल्क्यं हरिमुद्दिश्य यत्नवान् ॥ १२ ॥
अभोजयत् स्वादु भोज्यं कीर्तयित्वा च शार्ङ्गिणम्।
ददौ रत्नानि वासांसि ग्रामानश्वान् रथांस्तथा ॥१३ ॥
स्त्रियश्च द्विजमुख्येभ्यस्तदा शतसहस्रशः ।

प्रयत्नशील युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णके उद्देश्यसे द्वैपायन व्यास, देवर्षि नारद, तपोधन मार्कण्डेय, भारद्वाज और याज्ञवल्क्य मुनिको सुस्वादु भोजन कराया। भगवान्का नाम कीर्तन करके उन्होंने उत्तम ब्राह्मणोंको नाना प्रकारके रत्न, वस्त्र, ग्राम, घोड़े और रथ प्रदान किये। बहुत-से ब्राह्मणशिरोमणियोंको लाखों कुमारी कन्याएँ दीं ॥ १२-१३½॥

कृपमभ्यर्च्य च गुरुमथ पौरपुरस्कृतम् ॥ १४ ॥
शिष्यं परिक्षितं तस्मै ददौ भरतसत्तमः ।

तत्पश्चात् गुरुवर कृपाचार्यकी पूजा करके पुरवासियों-सहित परीक्षित्को शिष्यभावसे उनकी सेवामें सौंप दिया ॥ १४½॥

ततस्तु प्रकृतीः सर्वाः समानाय्य युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥
सर्वमाचष्ट राजर्षिश्चिकीर्षितमथात्मनः ।

इसके बाद समस्त प्रकृतियों (प्रजा-मन्त्री आदि) को बुलाकर राजर्षि युधिष्ठिरने, वे जो कुछ करना चाहते थे अपना वह सारा विचार उनसे कह सुनाया ॥ १५½ ॥

ते श्रुत्वैव वचस्तस्य पौरजानपदा जनाः ॥ १६ ॥
भृशमुद्विग्नमनसो नाभ्यनन्दन्त तद्वचः ।
नैवं कर्तव्यमिति ते तदोचुस्तं जनाधिपम् ॥ १७ ॥

उनकी वह बात सुनते ही नगर और जनपदके लोग मन-ही-मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठे। उन्होंने उस प्रस्तावका स्वागत नहीं किया। वे सब राजासे एक साथ बोले, 'आपको ऐसा नहीं करना चाहिये (आप हमें छोड़कर कहीं न जायँ)' ॥ १६-१७ ॥

न च राजा तथाकार्षीत् कालपर्यायधर्मवित् ।

परंतु धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर कालके उलट-फेरके अनुसार जो धर्म या कर्तव्य प्राप्त था, उसे जानते थे; अतः उन्होंने प्रजाके कथनानुसार कार्य नहीं किया ॥ १७½ ॥

ततोऽनुमान्य धर्मात्मा पौरजानपदं जनम् ॥ १८ ॥
गमनाय मतिं चक्रे भ्रातरश्चास्य ते तदा।

उन धर्मात्मा नरेशने नगर और जनपदके लोगोंको समझा-बुझाकर उनकी अनुमति प्राप्त कर ली। फिर उन्होंने और उनके भाइयोंने सब कुछ त्यागकर महाप्रस्थान करनेका ही निश्चय किया ॥ १८½ ॥

ततः स राजा कौरव्यो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १९ ॥
उत्सृज्याभरणान्यङ्गाज्जगृहे वल्कलान्युत ।
भीमार्जुनयमाश्चैव द्रौपदी च यशस्विनी ॥ २० ॥
तथैव जगृहुः सर्वे वल्कलानि नराधिप ।

इसके बाद कुरुकुलरत्न धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने अपने अङ्गोंसे आभूषण उतारकर वल्कलवस्त्र धारण कर लिया। नरेश्वर ! फिर भीमसेन अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा यशस्विनी द्रौपदी देवी—इन सबने भी उसी प्रकार वल्कल धारण किये ॥ १९-२०½ ॥

विधिवत् कारयित्वेष्टिं नैष्ठिकीं भरतर्षभ ॥ २१ ॥
समुत्सृज्याप्सु सर्वेऽग्नीन् प्रतस्थुर्नरपुङ्गवाः ।

भरतश्रेष्ठ ! इसके बाद ब्राह्मणोंसे विधिपूर्वक उत्सर्ग-कालिक इष्टि करवाकर उन सभी नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने अग्नियोंका जलमें विसर्जन कर दिया और स्वयं वे महायात्राके लिये प्रस्थित हुए ॥ २१½ ॥

ततः प्ररुरुदुः सर्वाः स्त्रियो दृष्ट्वा नरोत्तमान् ॥ २२ ॥
प्रस्थितान् द्रौपदीषष्ठान् पुरा द्यूतजितान् यथा ।
हर्षोऽभवच्च सर्वेषां भ्रातॄणां गमनं प्रति ॥ २३ ॥

पहले जूएमें परास्त होकर पाण्डवलोग जिस प्रकार वनमें गये थे, उसी प्रकार उस दिन द्रौपदीसहित उन नरोत्तम पाण्डवोंको इस प्रकार जाते देख नगरकी सभी स्त्रियाँ रोने लगीं। परंतु उन सभी भाइयोंको इस यात्रासे महान् हर्ष हुआ ॥ २२-२३ ॥

युधिष्ठिरमतं ज्ञात्वा वृष्णिक्षयमवेक्ष्य च ।
भ्रातरः पञ्च कृष्णा च षष्ठी श्वा चैव सप्तमः ॥ २४ ॥

युधिष्ठिरका अभिप्राय जान और वृष्णिवंशियोंका संहार देखकर पाँचों भाई पाण्डव, द्रौपदी और एक कुत्ता—ये सब साथ-साथ चले ॥ २४ ॥

आत्मना सप्तमो राजा निर्ययौ गजसाह्वयात् ।
पौरैरनुगतो दूरं सर्वैरन्तःपुरैस्तथा ॥ २५ ॥
न चैनमशकत् कश्चिन्निवर्तस्वेति भाषितुम् ।

उन छहोंको साथ लेकर सातवें राजा युधिष्ठिर जब हस्तिनापुरसे बाहर निकले, तब नगरनिवासी प्रजा और अन्तः-पुरकी स्त्रियाँ उन्हें बहुत दूरतक पहुँचाने गयीं; किंतु कोई भी मनुष्य राजा युधिष्ठिरसे यह नहीं कह सका कि आप लौट चलिये ॥ २५½ ॥

न्यवर्तन्त ततः सर्वे नरा नगरवासिनः ॥ २६ ॥
कृपप्रभृतयश्चैव युयुत्सुं पर्यवारयन् ।

धीरे-धीरे समस्त पुरवासी और कृपाचार्य आदि युयुत्सुको घेरकर उनके साथ ही लौट आये ॥ २६½ ॥

विवेश गङ्गां कौरव्य उलूपी भुजगात्मजा ॥ २७ ॥
चित्राङ्गदा ययौ चापि मणिपूरपुरं प्रति ।
शिष्टाः परिक्षितं त्वन्या मातरः पर्यवारयन् ॥ २८ ॥

जनमेजय ! नागराजकी कन्या उलूपी उसी समय गङ्गाजीमें समा गयी। चित्राङ्गदा मणिपूर नगरमें चली गयी। तथा शेष माताएँ परीक्षित्को घेरे हुए पीछे लौट आयीं॥२७-२८॥

पाण्डवाश्च महात्मानो द्रौपदी च यशस्विनी ।
कृतोपवासाः कौरव्य प्रययुः प्राङ्मुखास्ततः ॥२९ ॥

कुरुनन्दन ! तदनन्तर महात्मा पाण्डव और यशस्विनी द्रौपदीदेवी सब-के-सब उपवासका व्रत लेकर पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके चल दिये ॥ २९ ॥

योगयुक्ता महात्मानस्त्यागधर्ममुपेयुषः ।
अभिजग्मुर्बहून् देशान् सरितः सागरांस्तथा ॥ ३० ॥

वे सब-के-सब योगयुक्त महात्मा तथा त्यागधर्मका पालन करनेवाले थे। उन्होंने अनेक देशों, नदियों और समुद्रोंकी यात्रा की ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरो ययावग्रे भीमस्तु तदनन्तरम् ।
अर्जुनस्तस्य चान्वेव यमौ चापि यथाक्रमम् ॥ ३१ ॥

आगे-आगे युधिष्ठिर चलते थे। उनके पीछे भीमसेन थे। भीमसेनके भी पीछे अर्जुन थे और उनके भी पीछे क्रमशः नकुल और सहदेव चल रहे थे ॥ ३१ ॥

पृष्ठतस्तु वरारोहा श्यामा पद्मदलेक्षणा ।
द्रौपदी योषितां श्रेष्ठा ययौ भरतसत्तम ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इन सबके पीछे सुन्दर शरीरवाली, श्यामवर्णा, कमलदललोचना, युवतियोंमें श्रेष्ठ द्रौपदी चल रही थीं ॥३२॥

श्वा चैवानुययावेकः प्रस्थितान् पाण्डवान् वनम् ।
क्रमेण ते ययुर्वीरा लौहित्यं सलिलार्णवम् ॥ ३३ ॥

वनको प्रस्थित हुए पाण्डवोंके पीछे एक कुत्ता भी चला जा रहा था। क्रमशः चलते हुए वे वीर पाण्डव लालसागरके तटपर जा पहुँचे ॥ ३३ ॥

गाण्डीवं तु धनुर्दिव्यं न मुमोच धनंजयः ।
रत्नलोभान्महाराज ते चाक्षय्ये महेषुधी ॥ ३४ ॥

महाराज ! अर्जुनने दिव्यरत्नके लोभसे अभीतक अपने दिव्य गाण्डीव धनुष तथा दोनों अक्षय तूणीरोंका परित्याग नहीं किया था॥

अग्निं ते ददृशुस्तत्र स्थितं शैलमिवाग्रतः ।
मार्गमावृत्य तिष्ठन्तं साक्षात्पुरुषविग्रहम् ॥ ३५ ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने पर्वतकी भाँति मार्ग रोककर सामने खड़े हुए पुरुषरूपधारी साक्षात् अग्निदेवको देखा ॥ ३५॥



ततो देवः स सप्तार्चिः पाण्डवानिदमब्रवीत् ।
भो भोः पाण्डुसुता वीराः पावकं मां निबोधत ॥ ३६ ॥

तब सात प्रकारकी ज्वालारूप जिह्वाओंसे सुशोभित होनेवाले उन अग्निदेवने पाण्डवोंसे इस प्रकार कहा—'वीर पाण्डुकुमारो ! मुझे अग्नि समझो ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो भीमसेन परंतप ।
अर्जुनाश्विसुतौ वीरौ निबोधत वचो मम ॥ ३७ ॥

'महाबाहु युधिष्ठिर ! शत्रुसंतापी भीमसेन ! अर्जुन ! और वीर अश्विनीकुमारो ! तुम सब लोग मेरी इस बातपर ध्यान दो ॥ ३७ ॥

अहमग्निः कुरुश्रेष्ठा मया दग्धं च खाण्डवम् ।
अर्जुनस्य प्रभावेण तथा नारायणस्य च ॥ ३८ ॥

'कुरुश्रेष्ठ वीरो ! मैं अग्नि हूँ। मैंने ही अर्जुन तथा नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके प्रभावसे खाण्डववनको जलाया था ॥ ३८ ॥

अयं वः फाल्गुनो भ्राता गाण्डीवं परमायुधम् ।
परित्यज्य वने यातु नानेनार्थोऽस्ति कश्चन ॥ ३९ ॥

'तुम्हारे भाई अर्जुनको चाहिये कि ये इस उत्तम आयुध गाण्डीव धनुषको त्यागकर वनमें जायँ। अब इन्हें इसकी कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ३९ ॥

चक्ररत्नं तु यत् कृष्णे स्थितमासीन्महात्मनि ।
गतं तच्च पुनर्हस्ते कालेनैष्यति तस्य ह ॥ ४० ॥

'पहले जो चक्ररत्न महात्मा श्रीकृष्णके हाथमें था, वह चला गया। वह पुनः समय आनेपर उनके हाथमें जायगा ॥४०॥

वरुणादाहृतं पूर्वं मयैतत् पार्थकारणात् ।
गाण्डीवं धनुषां श्रेष्ठं वरुणायैव दीयताम् ॥ ४१ ॥

'यह गाण्डीव धनुष सब प्रकारके धनुषोंमें श्रेष्ठ है। इसे पहले मैं अर्जुनके लिये ही वरुणसे माँगकर ले आया था। अब पुनः इसे वरुणको वापस कर देना चाहिये' ॥ ४१ ॥

ततस्ते भ्रातरः सर्वे धनंजयमचोदयन् ।
स जले प्राक्षिपच्चैतत्तथाक्षय्ये महेषुधी ॥ ४२ ॥

यह सुनकर उन सब भाइयोंने अर्जुनको वह धनुष त्याग देनेके लिये कहा। तब अर्जुनने वह धनुष और दोनों अक्षय तरकस पानीमें फेंक दिये ॥ ४२ ॥

ततोऽग्निर्भरतश्रेष्ठ तत्रैवान्तरधीयत ।
ययुश्च पाण्डवा वीरास्ततस्ते दक्षिणामुखाः ॥ ४३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इसके बाद अग्निदेव वहीं अन्तर्धान हो गये और पाण्डववीर वहाँसे दक्षिणाभिमुख होकर चल दिये ॥४३॥

ततस्ते तूत्तरेणैव तीरेण लवणाम्भसः ।
जग्मुर्भरतशार्दूल दिशं दक्षिणपश्चिमाम् ॥ ४४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर वे लवणसमुद्रके उत्तर तटपर होते हुए दक्षिण-पश्चिमदिशाकी ओर अग्रसर होने लगे ॥ ४४॥

ततः पुनः समावृत्ताः पश्चिमां दिशमेव ते ।

दद्दशुर्द्वारकां चापि सागरेण परिप्लुताम् ॥ ४५ ॥
उदीचीं पुनरावृत्य ययुर्भरतसत्तमाः ।
प्रादक्षिण्यं चिकीर्षन्तः पृथिव्या योगधर्मिणः ॥ ४६ ॥

इसके बाद वे केवल पश्चिम दिशाकी ओर मुड़ गये । आगे जाकर उन्होंने समुद्रमें डूबी हुई द्वारकापुरीको देखा । फिर योगधर्ममें स्थित हुए भरतभूषण पाण्डवोंने वहाँसे लौटकर पृथ्वीकी परिक्रमा पूरी करनेकी इच्छासे उत्तर दिशाकी ओर यात्रा की ॥ ४५-४६ ॥

इति श्रीमहाभारते महाप्रस्थानिके पर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत महाप्रस्थानिकपर्वमें पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

मार्गमें द्रौपदी, सहदेव, नकुल, अर्जुन और भीमसेनका गिरना तथा युधिष्ठिरद्वारा प्रत्येकके गिरनेका कारण बताया जाना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते नियतात्मान उदीचीं दिशमास्थिताः ।
दद्दशुर्योगयुक्ताश्च हिमवन्तं महागिरिम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मनको संयममें रखकर उत्तर दिशाका आश्रय लेनेवाले योगयुक्त पाण्डवोंने मार्गमें महापर्वत हिमालयका दर्शन किया ॥ १ ॥

तं चाप्यतिक्रमन्तस्ते दद्दशुर्वालुकार्णवम् ।
अवैक्षन्त महाशैलं मेरुं शिखरिणां वरम् ॥ २ ॥

उसे भी लाँघकर जब वे आगे बढ़े, तब उन्हें वालूका समुद्र दिखायी दिया । साथ ही उन्होंने पर्वतोंमें श्रेष्ठ महागिरि मेरुका दर्शन किया ॥ २ ॥

तेषां तु गच्छतां शीघ्रं सर्वेषां योगधर्मिणाम् ।
याज्ञसेनी भ्रष्टयोगा निपपात महीतले ॥ ३ ॥

सब पाण्डव योगधर्ममें स्थित हो बड़ी शीघ्रतासे चल रहे थे । उनमेंसे द्रुपदकुमारी कृष्णाका मन योगसे विचलित हो गया; अतः वह लड़खड़ाकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३ ॥



तां तु प्रपतितां दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।
उवाच धर्मराजानं याज्ञसेनीमवेक्ष्य ह ॥ ४ ॥

उसे नीचे गिरी देख महाबली भीमसेनने धर्मराजसे पूछा—॥

नाधर्मश्चरितः कश्चिद् राजपुत्र्या परंतप ।
कारणं किं नु तद् ब्रूहि यत् कृष्णा पतिता भुवि ॥ ५ ॥

'परंतप ! राजकुमारी द्रौपदीने कभी कोई पाप नहीं किया था । फिर बताइये, कौन-सा कारण है, जिससे वह नीचे गिर गयी ?' ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पक्षपातो महानस्या विशेषेण धनंजये ।
तस्यैतत् फलमद्यैषा भुङ्क्ते पुरुषसत्तम ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पुरुषप्रवर ! उसके मनमें अर्जुनके प्रति विशेष पक्षपात था; आज यह उसीका फल भोग रही है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वानवेक्ष्यैनां ययौ भरतसत्तमः ।
समाधाय मनो धीमान् धर्मात्मा पुरुषर्षभः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर उसकी ओर देखे बिना ही भरतभूषण नरश्रेष्ठ बुद्धिमान् धर्मात्मा युधिष्ठिर मनको एकाग्र करके आगे बढ़ गये ॥ ७ ॥

सहदेवस्ततो विद्वान् निपपात महीतले ।
तं चापि पतितं दृष्ट्वा भीमो राजानमब्रवीत् ॥ ८ ॥

थोड़ी देर बाद विद्वान् सहदेव भी धरतीपर गिर पड़े । उन्हें भी गिरा देख भीमसेनने राजासे पूछा—॥ ८ ॥

योऽयमस्मासु सर्वेषु शुश्रूषुरनहंकृतः ।
सोऽयं माद्रवतीपुत्रः कस्मान्निपतितो भुवि ॥ ९ ॥

'भैया ! जो सदा हमलोगोंकी सेवा किया करता था और जिसमें अहंकारका नाम भी नहीं था, यह माद्रीनन्दन सहदेव किस दोषके कारण धराशायी हुआ है ?' ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आत्मनः सदृशं प्राज्ञं नैषोऽमन्यत कंचन ।
तेन दोषेण पतितस्तस्मादेष नृपात्मजः ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने कहा—यह राजकुमार सहदेव किसीको

अपने-जैसा विद्वान् या बुद्धिमान् नहीं समझता था; अतः उसी दोषसे इसका पतन हुआ है ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं समुत्सृज्य सहदेवं ययौ तदा ।
भ्रातृभिः सह कौन्तेयः शुना चैव युधिष्ठिरः ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर सहदेवको भी छोड़कर शेष भाइयों और एक कुत्तेके साथ कुन्तीकुमार युधिष्ठिर आगे बढ़ गये ॥ ११ ॥

कृष्णां निपतितां दृष्ट्वा सहदेवं च पाण्डवम् ।
आर्तो बन्धुप्रियः शूरो नकुलो निपपात ह ॥ १२ ॥

कृष्णा और पाण्डव सहदेवको गिरे देख शोकसे आर्त हो बन्धुप्रेमी शूरवीर नकुल भी गिर पड़े ॥ १२ ॥

तस्मिन् निपतिते वीरे नकुले चारुदर्शने ।
पुनरेव तदा भीमो राजानमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

मनोहर दिखायी देनेवाले वीर नकुलके धराशायी होनेपर भीमसेनने पुनः राजा युधिष्ठिरसे यह प्रश्न किया—॥ १३ ॥

योऽयमक्षतधर्मात्मा भ्राता वचनकारकः ।
रूपेणाप्रतिमो लोके नकुलः पतितो भुवि ॥ १४ ॥

'भैया ! संसारमें जिसके रूपकी समानता करनेवाला कोई नहीं था तो भी जिसने कभी अपने धर्ममें त्रुटि नहीं आने दी तथा जो सदा हमलोगोंकी आज्ञाका पालन करता था, वह हमारा प्रियबन्धु नकुल क्यों पृथ्वीपर गिरा है ?' ॥ १४ ॥

इत्युक्तो भीमसेनेन प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ।
नकुलं प्रति धर्मात्मा सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ १५ ॥

भीमसेनके इस प्रकार पूछनेपर समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ धर्मात्मा युधिष्ठिरने नकुलके विषयमें इस प्रकार उत्तर दिया—॥

रूपेण मत्समो नास्ति कश्चिदित्यस्य दर्शनम् ।
अधिकश्चाहमेवैक इत्यस्य मनसि स्थितम् ॥ १६ ॥
नकुलः पतितस्तस्मादागच्छ त्वं वृकोदर ।
यस्य यद् विहितं वीर सोऽवश्यं तदुपाश्नुते ॥ १७ ॥

'भीमसेन ! नकुलकी दृष्टि सदा ऐसी रही है कि रूपमें मेरे समान दूसरा कोई नहीं है । इसके मनमें यही बात बैठी रहती थी कि 'एकमात्र मैं ही सबसे अधिक रूपवान् हूँ ।' इसीलिये नकुल नीचे गिरा है । तुम आओ । वीर ! जिसकी जैसी करनी है, वह उसका फल अवश्य भोगता है ॥१६-१७॥

तांस्तु प्रपतितान् दृष्ट्वा पाण्डवः श्वेतवाहनः ।
पपात शोकसन्तप्तस्ततो नु परवीरहा ॥ १८ ॥

द्रौपदी तथा नकुल और सहदेव तीनों गिर गये, यह देखकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले श्वेतवाहन पाण्डुपुत्र अर्जुन शोकसे संतप्त हो स्वयं भी गिर पड़े ॥ १८ ॥

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे पतिते शक्रतेजसि ।
म्रियमाणे दुराधर्षे भीमो राजानमब्रवीत् ॥ १९ ॥

इन्द्रके समान तेजस्वी दुर्धर्ष वीर पुरुषसिंह अर्जुन जब पृथ्वीपर गिरकर प्राणत्याग करने लगे, उस समय भीमसेनने राजा युधिष्ठिरसे पूछा ॥ १९ ॥

अनृतं न स्मराम्यस्य स्वैरेष्वपि महात्मनः ।
अथ कस्य विकारोऽयं येनायं पतितो भुवि ॥ २० ॥

'भैया ! महात्मा अर्जुन कभी परिहासमें भी झूठ बोले हों—ऐसा मुझे याद नहीं आता ! फिर यह किस कर्मका फल है, जिससे इन्हें पृथ्वीपर गिरना पड़ा ?' ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच

एकाह्ना निर्दहेयं वै शत्रूनित्यर्जुनोऽब्रवीत् ।
न च तत् कृतवानेष शूरमानी ततोऽपतत् ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर बोले—अर्जुनको अपनी शूरताका अभिमान था । इन्होंने कहा था कि 'मैं एक ही दिनमें शत्रुओंको भस्म कर डालूँगा'; किंतु ऐसा किया नहीं; इसीसे आज इन्हें धराशायी होना पड़ा है ॥ २१ ॥

अवमेने धनुर्ग्राहानेष सर्वांश्च फाल्गुनः ।
तथा चैतन्न तु तथा कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ २२ ॥

अर्जुनने सम्पूर्ण धनुर्धरोंका अपमान भी किया था; अतः अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको ऐसा नहीं करना चाहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्रस्थितो राजा भीमोऽथ निपपात ह ।
पतितश्चाब्रवीद् भीमो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यों कहकर राजा युधिष्ठिर आगे बढ़ गये । इतनेहीमें भीमसेन भी गिर पड़े । गिरनेके साथ ही भीमने धर्मराज युधिष्ठिरको पुकारकर पूछा—॥

भो भो राजन्नवेक्षस्व पतितोऽहं प्रियस्तव ।
किं निमित्तं च पतनं ब्रूहि मे यदि वेत्थ ह ॥ २४ ॥

'राजन् ! जरा मेरी ओर तो देखिये, मैं आपका प्रिय भीमसेन यहाँ गिर पड़ा हूँ । यदि जानते हों तो बताइये, मेरे इस पतनका क्या कारण है ?' ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अतिभुक्तं च भवता प्राणेन च विकत्थसे ।
अनवेक्ष्य परं पार्थ तेनासि पतितः क्षितौ ॥ २५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भीमसेन ! तुम बहुत खाते थे और दूसरोंको कुछ भी न समझकर अपने बलकी डींग हाँका करते थे; इसीसे तुम्हें भी धराशायी होना पड़ा है ॥ २५ ॥

इत्युक्त्वा तं महाबाहुर्जगामानवलोकयन् ।
श्वाप्येकोऽनुययौ यस्ते बहुशः कीर्तितो मया ॥ २६ ॥

यह कहकर महाबाहु युधिष्ठिर उनकी ओर देखे बिना ही आगे चल दिये । एक कुत्ता भी बराबर उनका अनुसरण करता रहा, जिसकी चर्चा मैंने तुमसे अनेक बार की है ॥

इति श्रीमहाभारते महाप्रस्थानिके पर्वणि द्रौपद्यादिपतने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत महाप्रस्थानिकपर्वमें द्रौपदी आदिका पतनविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

युधिष्ठिरका इन्द्र और धर्म आदिके साथ वार्तालाप, युधिष्ठिरका अपने धर्ममें दृढ़ रहना तथा सदेह स्वर्गमें जाना

वैशम्पायन उवाच

ततः संनादयञ्शक्रो दिवं भूमिं च सर्वशः ।
रथेनोपययौ पार्थमारोहेत्यब्रवीच्च तम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर आकाश और पृथ्वीको सब ओरसे प्रतिध्वनित करते हुए देवराज इन्द्र रथके साथ युधिष्ठिरके पास आ पहुँचे और उनसे बोले—'कुन्तीनन्दन ! तुम इस रथपर सवार हो जाओ' ॥ १ ॥

स भ्रातॄन् पतितान् दृष्ट्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीच्छोकसंतप्तः सहस्राक्षमिदं वचः ॥ २ ॥

अपने भाइयोंको धराशायी हुआ देख धर्मराज युधिष्ठिर शोकसे संतप्त हो इन्द्रसे इस प्रकार बोले—॥ २ ॥

भ्रातरः पतिता मेऽत्र गच्छेयुस्ते मया सह ।
न विना भ्रातृभिः स्वर्गमिच्छे गन्तुं सुरेश्वर ॥ ३ ॥

'देवेश्वर ! मेरे भाई मार्गमें गिरे पड़े हैं । वे भी मेरे साथ चलें, इसकी व्यवस्था कीजिये; क्योंकि मैं भाइयोंके बिना स्वर्गमें जाना नहीं चाहता ॥ ३ ॥

सुकुमारी सुखार्हा च राजपुत्री पुरंदर ।
सास्माभिः सह गच्छेत तद् भवाननुमन्यताम् ॥ ४ ॥

'पुरन्दर ! राजकुमारी द्रौपदी सुकुमारी है । वह सुख पानेके योग्य है । वह भी हमलोगोंके साथ चले, इसकी अनुमति दीजिये' ॥ ४ ॥

शक्र उवाच

भ्रातॄन् द्रक्ष्यसि स्वर्गे त्वमग्रतस्त्रिदिवं गतान्।
कृष्णया सहितान् सर्वान् मा शुचो भरतर्षभ ॥ ५ ॥

इन्द्रने कहा—भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे सभी भाई तुमसे पहले ही स्वर्गमें पहुँच गये हैं । उनके साथ द्रौपदी भी है । वहाँ चलनेपर वे सब तुम्हें मिलेंगे ॥ ५ ॥

निक्षिप्य मानुषं देहं गतास्ते भरतर्षभ ।
अनेन त्वं शरीरेण स्वर्गे गन्ता न संशयः ॥ ६ ॥

भरतभूषण ! वे मानवशरीरका परित्याग करके स्वर्गमें गये हैं; किंतु तुम इसी शरीरसे वहाँ चलोगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं श्वा भूतभव्येश भक्तो मां नित्यमेव ह ।
स गच्छेत मया सार्धमानृशंस्या हि मे मतिः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर बोले—भूत और वर्तमानके स्वामी देवराज ! यह कुत्ता मेरा बड़ा भक्त है । इसने सदा ही मेरा साथ दिया है; अतः यह भी मेरे साथ चले—ऐसी आज्ञा दीजिये; क्योंकि मेरी बुद्धिमें निष्ठुरताका अभाव है ॥ ७ ॥

शक्र उवाच

अमर्त्यत्वं मत्समत्वं च राजन्
श्रियं कृत्स्नां महतीं चैव सिद्धिम्।
सम्प्राप्तोऽद्य स्वर्गसुखानि च त्वं
त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति ॥ ८ ॥

इन्द्रने कहा—राजन् ! तुम्हें अमरता, मेरी समानता, पूर्ण लक्ष्मी और बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त हुई है, साथ ही तुम्हें स्वर्गीय सुख भी उपलब्ध हुए हैं; अतः इस कुत्तेको छोड़ो और मेरे साथ चलो । इसमें कोई कठोरता नहीं है ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अनार्यमार्येण सहस्रनेत्र
शक्यं कर्तुं दुष्करमेतदार्य ।
मा मे श्रिया सङ्गमनं तयास्तु
यस्याः कृते भक्तजनं त्यजेयम् ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर बोले—सहस्रनेत्रधारी देवराज ! किसी आर्यपुरुषके द्वारा निम्नश्रेणीका काम होना अत्यन्त कठिन है । मुझे ऐसी लक्ष्मीकी प्राप्ति कभी न हो, जिसके लिये भक्तजनका त्याग करना पड़े ॥ ९ ॥

इन्द्र उवाच

स्वर्गे लोके श्ववतां नास्ति धिष्ण्य-
मिष्टापूर्तं क्रोधवशा हरन्ति ।
ततो विचार्य क्रियतां धर्मराज
त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति ॥ १० ॥

इन्द्रने कहा—धर्मराज ! कुत्ता रखनेवालोंके लिये स्वर्गलोकमें स्थान नहीं है । उनके यज्ञ करने और कुआँ, बावड़ी आदि बनवानेका जो पुण्य होता है, उसे क्रोधवश नामक राक्षस हर लेते हैं; इसलिये सोच-विचारकर काम करो । छोड़ दो इस कुत्तेको । ऐसा करनेमें कोई निर्दयता नहीं है ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

भक्तत्यागं प्राहुरत्यन्तपापं
तुल्यं लोके ब्रह्मवध्याकृतेन ।
तस्मान्नाहं जातु कथंचनाद्य
त्यक्ष्याम्येनं स्वसुखार्थी महेन्द्र ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर बोले—महेन्द्र ! भक्तका त्याग करनेसे जो पाप होता है, उसका अन्त कभी नहीं होता—ऐसा महात्मा पुरुष कहते हैं । संसारमें भक्तका त्याग ब्रह्महत्याके समान माना गया है; अतः मैं अपने सुखके लिये कभी किसी तरह भी आज इस कुत्तेका त्याग नहीं करूँगा ॥ ११ ॥

भीतं भक्तं नान्यदस्तीति चार्तं
प्राप्तं क्षीणं रक्षणे प्राणलिप्सुम्।
प्राणत्यागादप्यहं नैव मोक्तुं
यतेयं वै नित्यमेतद् व्रतं मे ॥ १२ ॥

जो डरा हुआ हो, भक्त हो, मेरा दूसरा कोई सहारा नहीं है—ऐसा कहते हुए आर्तभावसे शरणमें आया हो, अपनी रक्षामें असमर्थ—दुर्बल हो और अपने प्राण बचाना चाहता हो, ऐसे पुरुषको प्राण जानेपर भी मैं नहीं छोड़ सकता; यह मेरा सदाका व्रत है ॥ १२ ॥

इन्द्र उवाच

शुना दृष्टं क्रोधवशा हरन्ति
यद्दत्तमिष्टं विवृतमथो हुतं च ।
तस्माच्छुनस्त्यागमिमं कुरुष्व
शुनस्त्यागाद् प्राप्स्यसे देवलोकम् ॥ १३ ॥

इन्द्रने कहा—वीरवर ! मनुष्य जो कुछ दान, यज्ञ, स्वाध्याय और हवन आदि पुण्यकर्म करता है, उसपर यदि कुत्तेकी दृष्टि भी पड़ जाय तो उसके फलको क्रोधवश नामक राक्षस हर ले जाते हैं; इसलिये इस कुत्तेका त्याग कर दो । कुत्तेको त्याग देनेसे ही तुम देवलोकमें पहुँच सकोगे ॥ १३ ॥

त्यक्त्वा भ्रातॄन् दयितां चापि कृष्णां
प्राप्तो लोकः कर्मणा स्वेन वीर ।
श्वानं चैनं न त्यजसे कथं नु
त्यागं कृत्स्नं चास्थितो मुह्यसेऽद्य ॥ १४ ॥

वीर ! तुमने अपने भाइयों तथा प्यारी पत्नी द्रौपदीका परित्याग करके अपने किये हुए पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप देवलोकको प्राप्त किया है । फिर तुम इस कुत्तेको क्यों नहीं त्याग देते ? सब कुछ छोड़कर अब कुत्तेके मोहमें कैसे पड़ गये ॥

युधिष्ठिर उवाच

न विद्यते संधिरथापि विग्रहो
मृतैर्मर्त्यैरिति लोकेषु निष्ठा ।
न ते मया जीवयितुं हि शक्या-
स्ततस्त्यागस्तेषु कृतो न जीवताम् ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भगवन् ! संसारमें यह निश्चित बात है कि मरे हुए मनुष्योंके साथ न तो किसीका मेल होता है, न विरोध ही । द्रौपदी तथा अपने भाइयोंको जीवित करना मेरे वशकी बात नहीं है; अतः मर जानेपर मैंने उनका त्याग किया है, जीवितावस्थामें नहीं ॥ १५ ॥

भीतिप्रदानं शरणागतस्य
स्त्रिया वधो ब्राह्मणस्वापहारः ।
मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र
भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे ॥ १६ ॥

शरणमें आये हुएको भय देना, स्त्रीका वध करना, ब्राह्मणका धन लूटना और मित्रोंके साथ द्रोह करना—ये चार अधर्म एक ओर और भक्तका त्याग दूसरी ओर हो तो मेरी समझमें यह अकेला ही उन चारोंके बराबर है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् धर्मराजस्य वचो निशम्य
धर्मस्वरूपी भगवानुवाच ।
युधिष्ठिरं प्रीतियुक्तो नरेन्द्रं
श्लक्ष्णैर्वाक्यैः संस्तवसम्प्रयुक्तैः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिरका यह कथन सुनकर कुत्तेका रूप धारण करके आये हुए धर्मस्वरूपी भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और राजा युधिष्ठिरकी प्रशंसा करते हुए मधुर वचनोंद्वारा उनसे इस प्रकार बोले—॥

धर्मराज उवाच

अभिजातोऽसि राजेन्द्र पितुर्वृत्तेन मेधया ।
अनुक्रोशेन चानेन सर्वभूतेषु भारत ॥ १८ ॥

साक्षात् धर्मराजने कहा—राजेन्द्र ! भरतनन्दन ! तुम अपने सदाचार, बुद्धि तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति होनेवाली इस दयाके कारण वास्तवमें सुयोग्य पिताके उत्तम कुलमें उत्पन्न सिद्ध हो रहे हो ॥ १८ ॥

पुरा द्वैतवने चासि मया पुत्र परीक्षितः ।
पानीयार्थे पराक्रान्ता यत्र ते भ्रातरो हताः ॥ १९ ॥

बेटा ! पूर्वकालमें द्वैतवनके भीतर रहते समय भी एक बार मैंने तुम्हारी परीक्षा ली थी; जब कि तुम्हारे सभी भाई पानी लानेके लिये उद्योग करते हुए मारे गये थे ॥ १९ ॥

भीमार्जुनौ परित्यज्य यत्र त्वं भ्रातरावुभौ ।
मात्रोः साम्यमभीप्सन् वै नकुलं जीवमिच्छसि ॥ २० ॥

उस समय तुमने कुन्ती और माद्री दोनों माताओंमें समानताकी इच्छा रखकर अपने सगे भाई भीम और अर्जुनको छोड़ केवल नकुलको जीवित करना चाहा था ॥ २० ॥

अयं श्वा भक्त इत्येवं त्यक्तो देवरथस्त्वया ।
तस्मात् स्वर्गे न ते तुल्यः कश्चिदस्ति नराधिपः ॥ २१ ॥

इस समय भी 'यह कुत्ता मेरा भक्त है' ऐसा सोचकर तुमने देवराज इन्द्रके भी रथका परित्याग कर दिया है; अतः स्वर्गलोकमें तुम्हारे समान दूसरा कोई राजा नहीं है ॥ २१ ॥

अतस्तवाक्षया लोकाः स्वशरीरेण भारत ।
प्राप्तोऽसि भरतश्रेष्ठ दिव्यां गतिमनुत्तमाम् ॥ २२ ॥

भारत ! भरतश्रेष्ठ ! यही कारण है कि तुम्हें अपने इसी शरीरसे अक्षय लोकोंकी प्राप्ति हुई है । तुम परम उत्तम दिव्य गतिको पा गये हो ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो धर्मश्च शक्रश्च मरुतश्चाश्विनावपि ।
देवा देवर्षयश्चैव रथमारोप्य पाण्डवम् ॥ २३ ॥
प्रययुः स्वैर्विमानैस्ते सिद्धाः कामविहारिणः ।
सर्वे विरजसः पुण्याः पुण्यवाग्बुद्धिकर्मिणः ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—यों कहकर धर्म, इन्द्र, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, देवता तथा देवर्षियोंने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको रथपर बिठाकर अपने-अपने विमानोंद्वारा स्वर्गलोकको प्रस्थान किया । वे सब-के-सब इच्छानुसार

विचरनेवाले, रजोगुणशून्य पुण्यात्मा, पवित्र वाणी, बुद्धि और कर्मवाले तथा सिद्ध थे ॥ २३-२४ ॥

स तं रथं समास्थाय राजा कुरुकुलोद्वहः ।
ऊर्ध्वमाचक्रमे शीघ्रं तेजसाऽऽवृत्य रोदसी ॥ २५ ॥

कुरुकुलतिलक राजा युधिष्ठिर उस रथमें बैठकर अपने तेजसे पृथ्वी और आकाशको व्याप्त करते हुए तीव्र गतिसे ऊपरकी ओर जाने लगे ॥ २५ ॥

ततो देवनिकायस्थो नारदः सर्वलोकवित् ।
उवाचोच्चैस्तदा वाक्यं बृहद्वादी बृहत्तपाः ॥ २६ ॥

उस समय सम्पूर्ण लोकोंका वृत्तान्त जाननेवाले, बोलनेमें कुशल तथा महान् तपस्वी देवर्षि नारदजीने देवमण्डलमें स्थित हो उच्च स्वरसे कहा ॥ २६ ॥

येऽपि राजर्षयः सर्वे ते चापि समुपस्थिताः ।
कीर्तिं प्रच्छाद्य तेषां वै कुरुराजोऽधितिष्ठति ॥ २७ ॥

'जितने राजर्षि स्वर्गमें आये हैं, वे सभी यहाँ उपस्थित हैं, किंतु कुरुराज युधिष्ठिर अपने सुयशसे उन सबकी कीर्तिको आच्छादित करके विराजमान हो रहे हैं ॥ २७ ॥

लोकानावृत्य यशसा तेजसा वृत्तसम्पदा ।
स्वशरीरेण सम्प्राप्तं नान्यं शुश्रुम पाण्डवात् ॥ २८ ॥

'अपने यश, तेज और सदाचाररूप सम्पत्तिसे तीनों लोकोंको आवृत करके अपने भौतिक शरीरसे स्वर्गलोकमें आनेका सौभाग्य पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके सिवा और किसी-राजाको प्राप्त हुआ हो, ऐसा हमने कभी नहीं सुना है ॥२८॥

तेजांसि यानि दृष्टानि भूमिष्ठेन त्वया विभो ।
वेश्मानि भुवि देवानां पश्यामूनि सहस्रशः ॥ २९ ॥

'प्रभो ! युधिष्ठिर ! पृथ्वीपर रहते हुए तुमने आकाशमें नक्षत्र और ताराओंके रूपमें जितने तेज देखे हैं, वे इन देवताओंके सहस्रों लोक हैं; इनकी ओर देखो' ॥ २९ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा राजा वचनमब्रवीत् ।
देवानामन्त्र्य धर्मात्मा स्वपक्षांश्चैव पार्थिवान् ॥ ३० ॥

नारदजीकी बात सुनकर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने देवताओं तथा अपने पक्षके राजाओंकी अनुमति लेकर कहा—॥

शुभं वा यदि वा पापं भ्रातॄणां स्थानमद्य मे ।
तदेव प्राप्तुमिच्छामि लोकानन्यान्न कामये ॥ ३१ ॥

'देवेश्वर ! मेरे भाइयोंको शुभ या अशुभ जो भी स्थान प्राप्त हुआ हो, उसीको मैं भी पाना चाहता हूँ । उसके सिवा दूसरे लोकोंमें जानेकी मेरी इच्छा नहीं है' ॥ ३१ ॥

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा देवराजः पुरंदरः ।
आनृशंस्यसमायुक्तं प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ ३२ ॥

राजाकी बात सुनकर देवराज इन्द्रने युधिष्ठिरसे कोमल वाणीमें कहा ॥ ३२ ॥

स्थानेऽस्मिन् वस राजेन्द्र कर्मभिर्निर्जिते शुभैः ।
किं त्वं मानुष्यकं स्नेहमद्यापि परिकर्षसि ॥ ३३ ॥

'महाराज ! तुम अपने शुभ कर्मोंद्वारा प्राप्त हुए इस स्वर्गलोकमें निवास करो । मनुष्यलोकके स्नेहपाशको क्यों अभीतक खींचे ला रहे हो ? ॥ ३३ ॥

सिद्धिं प्राप्तोऽसि परमां यथा नान्यः पुमान् क्वचित् ।
नैव ते भ्रातरः स्थानं सम्प्राप्ताः कुरुनन्दन ॥ ३४ ॥

'कुरुनन्दन ! तुम्हें वह उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई है जिसे दूसरा मनुष्य कभी और कहीं नहीं पा सका । तुम्हारे भाई ऐसा स्थान नहीं पा सके हैं ॥ ३४ ॥

अद्यापि मानुषो भावः स्पृशते त्वां नराधिप ।
स्वर्गोऽयं पश्य देवर्षीन् सिद्धांश्च त्रिदिवालयान् ॥ ३५ ॥

'नरेश्वर ! क्या अब भी मानवभाव तुम्हारा स्पर्श कर रहा है ? राजन् ! यह स्वर्गलोक है । इन स्वर्गवासी देवर्षियों तथा सिद्धोंका दर्शन करो' ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिरस्तु देवेन्द्रमेवंवादिनमीश्वरम् ।
पुनरेवाब्रवीद् धीमानिदं वचनमर्थवत् ॥ ३६ ॥

ऐसी बात कहते हुए ऐश्वर्यशाली देवराजसे बुद्धिमान् युधिष्ठिरने पुनः यह अर्थयुक्त वचन कहा—॥ ३६ ॥

तैर्विना नोत्सहे वस्तुमिह दैत्यनिबर्हण ।
गन्तुमिच्छामि तत्राहं यत्र ते भ्रातरो गताः ॥ ३७ ॥
यत्र सा बृहती श्यामा बुद्धिसत्त्वगुणान्विता ।
द्रौपदी योषितां श्रेष्ठा यत्र चैव गता मम ॥ ३८ ॥

'दैत्यसूदन ! अपने भाइयोंके बिना मुझे यहाँ रहनेका उत्साह नहीं होता; अतः मैं वहीं जाना चाहता हूँ, जहाँ मेरे भाई गये हैं तथा जहाँ ऊँचे कदवाली, श्यामवर्णा, बुद्धिमती सत्त्वगुणसम्पन्ना एवं युवतियोंमें श्रेष्ठ मेरी द्रौपदी गयी है ॥

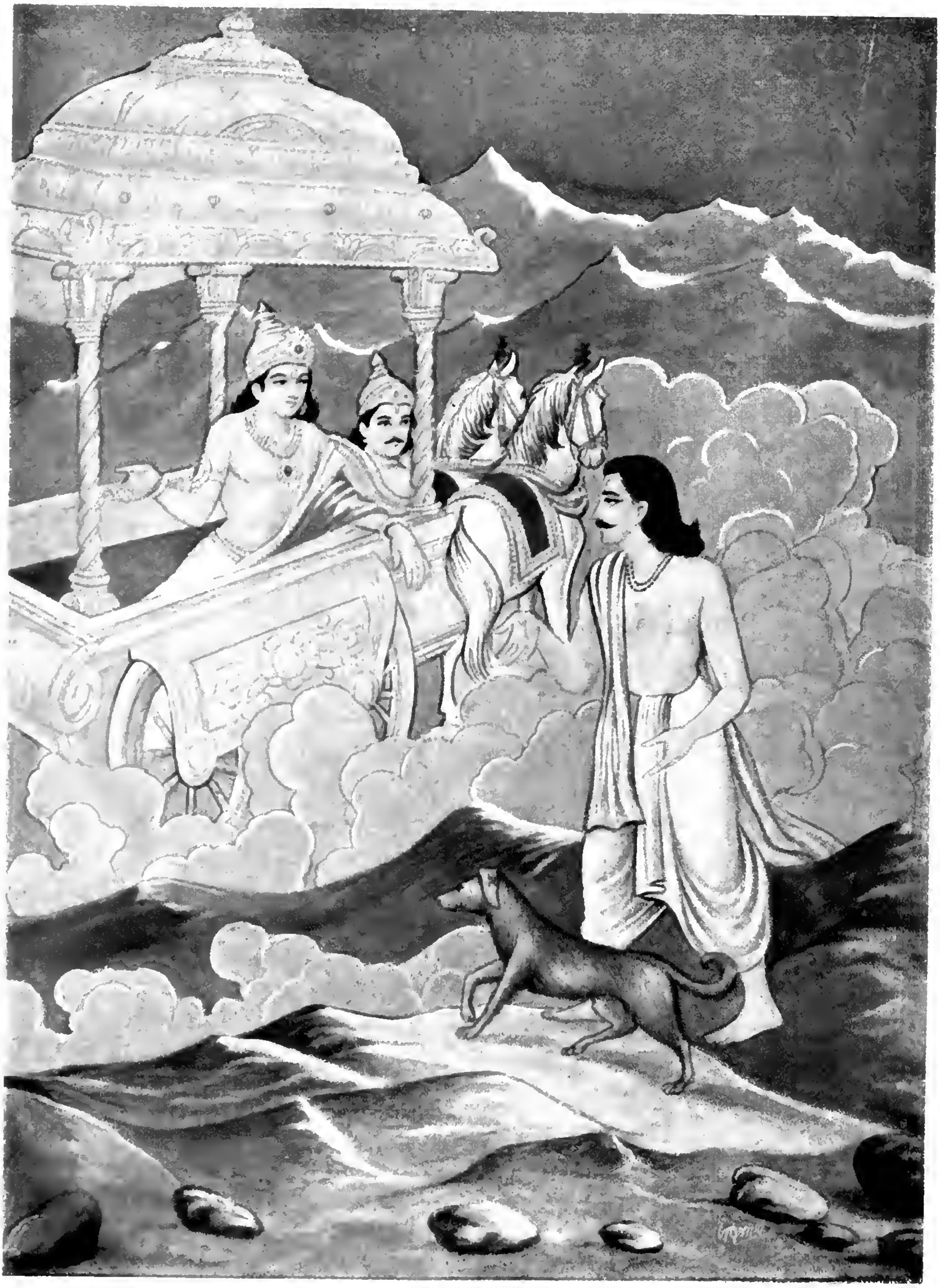
इति श्रीमहाभारते महाप्रस्थानिके पर्वणि युधिष्ठिरस्वर्गारोहे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत महाप्रस्थानिकपर्वमें युधिष्ठिरका स्वर्गारोहणविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

महाप्रस्थानिकपर्व सम्पूर्ण

	अनुष्टुप्	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	१०१	(१०)	१३॥।	११४॥।
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	×	×	×	

महाप्रस्थानिकपर्वकी कुल श्लोक संख्या ११४॥।



युधिष्ठिरका अपने आश्रित कुत्तेके लिये त्याग